॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

वर्ष : १
अंक : १

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वैशाख
२००२

★

हे सर्वोत्कृष्ट सुख के हेतुभूत सम्यग्दर्शन! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो।

इस अनादि संसार में अनन्तानन्त जीव तेरे आश्रय के बिना अनन्तानन्त दु:खों को भोग रहे हैं।

तेरी परम कृपा से स्व-स्वरूप में रुचि हुई, परम वीतराग स्वभाव के प्रति दृढ़ निश्चय उत्पन्न हुआ, कृतकृत्य होने का मार्ग ग्रहण हुआ।

हे वीतराग जिनेन्द्र! आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। आपने इस पामर के प्रति अनन्तानन्त उपकार किये हैं।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के लिये इस पामर को परम उपकारभूत हुये हैं। इसलिये आपको परम भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जन्मादि दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति नहीं हो सकती।

— श्रीमद् राजचन्द्र

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

★ शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र ★

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

आद्य निवेदन

पाठकों को यह तो ज्ञात ही होगा कि सोनगढ़ (काठियावाड) में परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का निवास है। आप अध्यात्मज्ञान के महान् रसिक विद्वान है और मुमुक्षु भाई-बहिनों को जैनधर्म का सच्चा उपदेश देते रहते हैं। यहाँ पर बाहर (अनेक नगरों) के अनेक भाई-बहिन आकर स्थायीरूप से रहते हैं और गुरुदेव से अध्यात्मज्ञान का उपदेशामृत पान करते रहते हैं। आत्मधर्म या अध्यात्मज्ञान के प्रचारार्थ गत २ वर्ष से यहाँ से 'आत्मधर्म' नामक मासिक पत्र गुजराती भाषा में प्रगट होता है। इस पत्र में परम पूज्य कानजीस्वामी के सदुपदेश, आध्यात्मिक प्रवचन और तत्त्वज्ञान पूर्ण शास्त्रोक्त लेख प्रगट होते हैं। यह पत्र अल्प समय में ही इतना लोकप्रिय बन गया है कि इसके करीब १५०० ग्राहक हो गये हैं।

इस पत्र के द्वारा गुजरात और काठियावाड़ में सनातन जैनधर्म का बहुत प्रचार हुआ है और सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के निमित्त से परमागम श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री धवला-जयधवला, श्री पद्मनन्दि, श्री पंचाध्यायी, श्री पाहुड, श्री तत्त्वार्थसूत्र, श्री द्रव्य संग्रह, श्री छहढाला तथा श्री मोक्षमार्गप्रकाशक आदि शास्त्रों का बहुत प्रचार हुआ है, और काफी जन समाज अध्यात्म ज्ञान की प्रेमी बन गई हैं।

किन्तु अभी तक इस प्रचार का माध्यम प्राय: गुजराती भाषा रही हैं, इसलिए इसका लाभ गुजराती भाई-बहिन ही ले पाते हैं। इसलिए कई मुमुक्षु भाई-बहिनों का यह विचार हुआ कि यदि 'आत्मधर्म' हिन्दी भाषा में भी प्रगट होने लगे तो भारतवर्ष की तमाम हिन्दी जानकार अध्यात्मरसिक जनता इस तत्त्वज्ञान का रसास्वाद कर सकेगी। इसी व्यापक भावना को लेकर 'आत्मधर्म' की हिन्दी आवृत्ति प्रगट करने का निश्चय हुआ है।

इस पत्र में अध्यात्म ज्ञान संबंधी लेख प्रगट होंगे, जिससे जिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान की पुष्टी हो। इस में परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद प्रगट होगा, जिससे वाचक उनकी वाणी और तत्त्वज्ञान का भी लाभ ले सके। इसमें और भी जो लेख छपेंगे वे सभी वीतराग विज्ञानता के लिये हुये होंगे।

इस पत्र की सारी व्यवस्था और सम्पूर्ण आर्थिक उत्तरदायित्व श्री भाई जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (काठियावाड़) ने केवल ज्ञान प्रभावना के हेतु अपने ऊपर ले ली है। इसलिए इस पत्र के संबंध में तमाम पत्र व्यवहार उन्हीं के साथ करना चाहिये।

महावीर जन्म कल्याणक
महोत्सव दिन
सुवर्णपुरी
चैत्र सुदी १३ : २००२ बुधवार

: निवेदक :
रामजी माणेकचन्द दोशी
: प्रमुख :
जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

मुद्रक—प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड़,
प्रथम संस्करण १००० ता. ७-५-४५ पुनर्मुद्रण १००० ता. १५-९-४५

शाश्वत सुख का मार्ग
दर्शानेवाला मासिक

आत्मधर्म

अंक १ : वर्ष १
वैशाख : २००२

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने
प्रश्नकार को दिये हुए उत्तर

प्रश्न – आत्मा क्या कर सकता है ?

उत्तर – आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वह चैतन्य के उपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

प्रश्न – यदि आत्मा, उपयोग के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता है तो फिर संसार और मोक्ष की व्यवस्था का क्या मतलब हैं।

उत्तर – उपयोग के सिवाय आत्मा और कुछ नहीं कर सकता। चैतन्य के उपयोग को जब 'पर' पदार्थ की तरफ लक्ष्य रखकर परभाव में दृढ़ कर लेता है, तब यही संसार कहलाता है और जब 'स्व' की तरफ लक्ष्य करके उपयोग को स्व में दृढ़ करता है, तब यही मोक्ष कहलाता है। 'स्व' की तरफ लक्ष्य रख कर 'स्व' में दृढ़ता तथा 'पर' की तरफ लक्ष्य रख कर 'पर' की दृढ़ता, इसके सिवाय अनादिकाल से और कुछ कोई जीव कर ही नहीं सका है और न अनन्त काल तक और कुछ कर ही सकेगा।

प्रश्न – यदि आत्मा, उपयोग के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर समस्त शास्त्रों से क्या लाभ है ?

उत्तर – बारह अंग और चौदह पूर्व इन सबका उपदेश मात्र एक ही है, और वह यह कि चैतन्य का उपयोग जो पर की तरफ ढला हुआ है, उसे स्व की तरफ मोड़ कर स्व में दृढ़ करना। इस प्रकार उपयोग को मोड़ करने की बात है। इसी बात को शास्त्रों में अनेक प्रकार (नय) से समझाया गया है।

प्रश्न – संसारी और मुक्त जीवों की क्रिया में क्या भेद है ?

उत्तर – चैतन्य का उपयोग, यही आत्मा की क्रिया है। निगोद से लेकर सिद्ध भगवान तक के सभी जीव, उपयोग ही कर सकते हैं; उपयोग के सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकते। भेद मात्र इतना ही है कि निगोद वगैरह संसारी जीव अपने उपयोग को पर की तरफ लगाकर पर भाव में एकाग्र रहते हैं किन्तु सिद्ध भगवान वगैरह उपयोग को अपने शुद्ध स्वभाव में ढाल कर स्वभाव

आत्मा की क्रिया

में एकाग्र रहते हैं। परन्तु सिद्ध या निगोद आदि कोई भी जीव, उपयोग के सिवाय पर पदार्थ में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकते। स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी अथवा देव, गुरु, शास्त्र आदि भी सभी पर हैं। आत्मा उनका कुछ नहीं कर सकता। आत्मा तो मात्र उसकी तरफ शुभ या अशुभ उपयोग कर सकता है। परन्तु ये शुभ औरर अशुभ दोनों उपयोग, पर तरफ का होने से 'अशुद्ध उपयोग' कहा जाता है और स्व तरफ का उपयोग को 'शुद्ध उपयोग' कहलाता है। इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि ''पर लक्ष्य से बन्धन तथा स्व लक्ष्य से मुक्ति'' होती है। ''पर लक्ष्य होने पर शुभभाव हो तो भी वह अशुद्ध उपयोग ही है तथैव संसार का कारण है। जहां स्वलक्ष्य है वहां शुद्धोपयोग ही है और वह मुक्ति का हेतु है। (ता. २५-१२-४४ की चर्चा)

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक रजकण बिलकुल भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। अतः आत्मा की अवस्था आत्मा से तथा जड़ की अवस्था जड़ से होती है, यही मानना प्रथम धर्म है।

परंतु

प्रत्येक वस्तु का कार्य अन्तरंग कारण से ही होता है। बाह्य कारण से कोई भी कार्य नहीं होता है। यदि बाह्य कारण से ही कार्य हो जाता हो तो चावल (धान) में से गेहूँ और गेहूँ के बीज में से चावल पेदा होने का प्रसंग आ जावेगा। ऐसा होने पर तो वस्तु की व्यवस्था ही कायम नहीं रह सकती। इसीलिए कहा है कि ''कहीं पर भी अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है''।

सार यही कि सर्व वस्तुओं के कार्य की उत्पत्ति अन्तरंग कारण (वस्तु की अपनी शक्ति) से ही होती है, यह नियम है। इसमें अनेक प्रश्नों का समाधान समावेशित है।

अन्तरंग कारण — द्रव्य की शक्ति, उपादान कारण,

बहिरंग कारण — पर द्रव्य की वर्तमानता, निमित्त कारण।

कोई भी कार्य बाह्य पदार्थों के कारण से उत्पन्न नहीं होता, यह निश्चित सिद्धान्त है। यदि बाह्य कारण से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावल से गेहूँ तथा गेहूँ से चावल उत्पन्न होने लगें - परंतु ऐसा कहीं होता तो नहीं है। इसलिये स्पष्ट है कि किसी भी द्रव्य का कार्य किसी दूसरे द्रव्य के कारण से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि द्रव्य की अपनी ही शक्ति से होता है।

तीन काल और तीन लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं, जिस द्रव्य का कार्य अन्य द्रव्य से उत्पन्न होता हो। यदि अन्य द्रव्य से भी कार्य की उत्पत्ति होने लगे तो जीव में से जड़ तथा जड़ में से जीव की उत्पत्ति का प्रसंग आ जावेगा। परन्तु कार्य और कारण एक ही द्रव्य में से होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्रव्य का कार्य स्वतन्त्ररूप से अपने द्रव्य के कारण से ही होता है,

इसीलिए उपर्युक्त सिद्धान्त में कार्योत्पत्ति के प्रत्येक उपादान-निमित्त कारण का खुलासा आ जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से वस्तु का स्वरूप होने से आत्मद्रव्य का कार्य (अवस्था) तो आत्मा के ही अन्तरंग कारण से उत्पन्न होता है। और आत्मद्रव्य में तो वीतराग भाव ही प्रगट करने की शक्ति है। वीतराग-शुद्धतारूपी कार्य उत्पन्न हो, ऐसी ही आत्मद्रव्य की अन्तरंग शक्ति है।

प्रश्न - यदि आत्मद्रव्य की अंतरंग शक्ति वीतरागता और शुद्धता ही प्रगट करने की है तो फिर पर्यायरूपी कार्य में अशुद्धता क्यों होती हैं ?

उत्तर - पर्याय में जो अशुद्धता है, वह पर्याय की वर्तमान योग्यता है। ज्ञानघन स्वभावी, अरूपी आत्मा, जो अन्तरंग कारण है, उसमें से तो-चाहे कैसा भी बाह्य निमित्त हो, चाहे कैसा भी संयोग हो-तो भी ज्ञान और वीतरागता का ही प्रादुर्भाव होता है। इतना होने पर भी, पर्याय में जो विकार या अशुद्धता हैं, वह पर्याय के अन्तरंग कारण से है। विकार का अन्तरंग कारण एक समय मात्र पर्याय है; इसलिए विकाररूपी कार्य भी एक समयमात्र अवस्थिति का है। पहले समय का विकार दूसरे समय में निवृत हो जाता है। रागादि विकाररूप अशुद्ध अवस्था पर्याय के अन्तरंग कारण से है। रागादि का अन्तरंग कारण द्रव्य नहीं, बल्कि अवस्था (पर्याय) है। अर्थात् द्रव्य के मूल स्वभाव में रागादि नहीं, इसलिए आत्मद्रव्य, रागादि का कारण नहीं है।

जिस प्रकार चेतनद्रव्य की अवस्था चेतन के अन्तरंग कारण से ही होती है; उसी प्रकार जड़-द्रव्य की अवस्था जड़ द्रव्य के अन्तरंग कारण से ही होती है। जो शरीर के परमाणु एकत्रित हुए हैं, वे आत्मा के कारण से नहीं आए हैं, परन्तु जिन-जिन परमाणुओं की अन्तरंग शक्ति थी, वे ही परमाणु एकत्रित हुए है। अन्य सर्व परमाणु मल, मूत्रादि के द्वारा पृथक् हो गए। परमाणुओं में क्रोध-कर्म रूप जो अवस्था होती है, वह परमाणु की उस समय की योग्यता है, जीव ने वह अवस्था पैदा नहीं की। जीव की क्रोधादि भावरूप जो अवस्था होती है, उसमें जीव की उस समय की अवस्था की योग्यता ही कारण है। जीव की अवस्था में विकार भाव और पुद्गल की अवस्था में कर्मरूप परिणमन, ये दोनों अपने-अपने अन्तरंग स्वतन्त्र कारणों से होते हैं। परस्पर एक-दूसरे के अन्तरंग कारण नहीं हैं।

प्रति समय अवस्था (पर्याय) परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है। वस्तु की अवस्था वस्तु के कारण से ही उत्पन्न होती है। बाह्य साधन के कारण से किसी द्रव्य की अवस्था उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का स्वयं ही बिगाड या सुधार कर सकता हैं। चैतन्य की पर्याय चैतन्यरूप परिणमन होती है, और जड़ की पर्याय की जड़रूप परिणमन होती है। द्रव्य की अवस्था का कर्ता कोई अन्य नहीं है।

(श्री धवलाशास्त्र वोल्यम ६ ठा, पृ. १६४ पूज्य सद्गुरुदेव के वांचन में से राजकोट)

आत्मा क्या और शरीर क्या है इसके पृथक्त्व के ज्ञान बिना आत्मा क्या करता है इस बात का

अज्ञानी को क्या पता चल सकता है ?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, यह बात श्री समयसारजी के कर्ताकर्म अधिकार में अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझाई है। इसलिए उस अधिकार की १९ वीं गाथा और उस पर परम पूज्य सद्गुरु-देवश्री का व्याख्यान यहां दिया जाता है।

परद्रव्यों को आत्मा करता है। ऐसी सामान्य मनुष्यों की मान्यता सत्य नहीं है, इसी बात को बताते हैं—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज, णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥९९॥

अन्वयार्थ :- यदि आत्मा, परद्रव्यों का कर्ता होता तो नियम पूर्वक वह उनमें तन्मय होता अर्थात् परद्रव्यमय हो जाता; परन्तु वह तन्मय नहीं होता, इसलिए उनका कर्ता भी नहीं हैं।

टीका :- जो निश्चय से यह आत्मा, परद्रव्य स्वरूप कर्म को करे तो वह आत्मा नियम से परद्रव्य में तन्मय (पररूप) हो जाय; क्योंकि परिणाम तथा परिणामीपना अन्य किसी प्रकार घटित ही नहीं हो सकता। परन्तु वह तन्मय नहीं होता। क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाय तो द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जाएगी। अतः आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं हैं।

भावार्थ :- एक द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य हो जाय तो दोनों द्रव्य एक हो जायें। क्योंकि कर्ता-कर्मपना तथा परिणाम-परिणामीपना एक ही द्रव्य में हो सकता हैं। इस प्रकार यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाए तो उस द्रव्य का नाश हो जाए और महान दोष का प्रसंग आ जावे। इस वास्ते एक द्रव्य को अन्य द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं।

आत्मा, परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा परद्रव्य का कुछ सके तो दोनों द्रव्य नियम से एक हो जावे। परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल में एक दूसरे से भिन्न हैं।

आत्मा, परद्रव्य का यदि कुछ कर सके तो आत्मा और परद्रव्य एक हो जाय। क्योंकि जिस समय आत्मा, परद्रव्य का कुछ कर सकेगा, उसी समय दूसरे द्रव्य की स्वतंत्रदशा रहेगी

नहीं और इस प्रकार उसकी स्वतंत्रता नष्ट होने पर, द्रव्य का लोप हुआ क्योंकि बिना अपनी स्वतंत्र अवस्था कोई पदार्थ होता ही नहीं। इस प्रकार यदि जीव, परद्रव्य की अवस्था का कर्ता हो जाय तो परद्रव्य के साथ एकमेक हो जाय और द्रव्यनाश का प्रसंग आ जावे। परन्तु ऐसा कभी होता तो नहीं हैं।

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक रजकण (परमाणु) भिन्न-भिन्न स्वतंत्र पदार्थ है। आत्मा की अवस्था आत्मा से ही होती है और जड़ की अवस्था जड़ से ही होती है। इसतरह विश्वास करना यह प्रथम धर्म है।

आत्मा किसी पर वस्तु में प्रविष्ट नहीं हो सकता। शरीर में भी आत्मा प्रविष्ट नहीं हुआ है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है। शरीर और आत्मा ये त्रिकाल भिन्न पदार्थ हैं। शरीर की अवस्था रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित जड़रूप होती हैं और आत्मा की अवस्था ज्ञानरूप होती है। इस तरह दोनों द्रव्य तथा उन दोनों की अवस्थाएं बिलकुल पृथक्-पृथक् रहती हैं।

प्रश्न - आत्मा, पर का कर्ता हैं, ऐसा मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता मान लिया जाय तो द्रव्य के नाश का प्रसंग आ जावे अर्थात् महान् दोष आ जावे। जगत में अनन्त पदार्थ है। जिस प्रकार आत्मा एक वस्तु है, उसी प्रकार दूसरा द्रव्य भी एक वस्तु है। जो वस्तु होती है, वह प्रतिक्षण स्वयोग्य क्रिया को करनेवाली होती है। अब यदि यह माना जाए कि आत्मा ने अमुक द्रव्य का अमुक समय में कुछ किया तो फिर उस समय उस दूसरी वस्तु ने क्या किया? क्योंकि परद्रव्य भी तो सामान्य रूप है। उसकी विशेष रूप क्रिया भी प्रतिक्षण होनी ही चाहिए। अब यदि उस द्रव्य का आत्मा कुछ करता है तो उस द्रव्य की उस समय स्वयं क्या अवस्था हुई? बिना अवस्था [पर्याय या क्रियाकारित्व] के तो कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता हैं। इसलिए स्पष्ट है कि उस समय उस दूसरे द्रव्य ने कुछ किया ही नहीं। जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रति समय अपने स्वरूप में अवस्थित रह कर अपनी पर्याय [अवस्था] को स्वयं ही परिवर्तित करता रहता है। उस की क्रियाकारिता में दूसरे द्रव्य का किंचित् मात्र कार्य नहीं। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की विशेष अवस्था को करने लगे तो दूसरे द्रव्य की विशेष अवस्था रहती नहीं है और बिना विशेष अवस्था के द्रव्य की सत्ता का ही अभाव हो जाता है। इस तरह महान् दोष का प्रसंग आता है। इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है - ऐसा मानना उस द्रव्य की त्रिकाली हिंसा है। इससे बढ़कर और बड़ा

पाप दुनियां में नहीं। परद्रव्य का मैं कुछ कर सकता हुँ – यही मानना महान् हिंसा है। वही महान पाप है। बाह्यरूप में पर प्राणी मरता है या दुखी होता है, इसी में हिंसा नहीं है। परन्तु मैं उस प्राणी को दुखी या सुखी कर सकता हुँ – ऐसी मान्यता ही अपने ज्ञानस्वरूप की हिंसा है। उसमें मिथ्यात्व भाव का अनन्त पाप है। और ''पर का कुछ कर सकता हुँ'' – ऐसी विपरीत मान्यता को छोड़ कर ''मैं आत्मा ज्ञान स्वरूप हुँ, परद्रव्य में मेरा किंचित् मात्र कार्य नहीं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, सभी द्रव्य अपने-अपने कर्ता हैं,'' ऐसा मानना, यही अहिंसा है और यही प्रथम धर्म है।

शरीर, आत्मा का चलाया हुआ चलता है और मनुष्य बड़े-बड़े पहाड़ों को तोड़ डालते हैं, यह सब हम आंखों से देखते हैं न? फिर भी आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता — ऐसा क्यों कह रहे हैं? क्या हमने जो कुछ नजरों से देखा है, वह सब गलत है?

उत्तर – आत्मा क्या है और शरीर क्या है? इसके पृथक्त्व के ज्ञान के बिना आत्मा ने क्या किया, इस बात का अज्ञानी को क्या पता चल सकता है? आत्मा को तो वह देखता नहीं, मात्र बाह्य जड़ की स्थूल क्रिया को देखता है। ''आत्मा, जड़ की क्रिया करता है'' ऐसा दृष्टि से भी तो दिखाई नहीं देता। परन्तु अज्ञानी व्यर्थ ही यह मान लेता है कि आत्मा कर रहा है और कहता है कि मैंने आंखों से देखा है। परन्तु यह नहीं विचारता कि नजर से क्या देखा? नजर से तो यही देखा जाता है कि जड़ वस्तु की क्रिया अपने आप ही हो रही है। परन्तु ''बछेरे के अण्डे'' की तरह ''आत्मा ने किया'' ऐसा मानता है। बछेरे के अण्डे का द्रष्टान्त निम्न प्रकार से है।

एक बार एक दरबार एक सुन्दर घोड़े के बछेरे को खरीदने के लिए बाहर निकला। दरबार पहले कभी महल से बाहर नहीं निकला था, इसलिए उसे दुनियां का कोई अनुभव न था। वह बछेरा खरीदने एक गांव से दूसरे गांव जा रहा था। बीच में उसे कुछ ठग मिले। बातचीत में उन ठगों ने जान लिया कि यह दरबार बिलकुल अनुभव हीन है और बछेरा खरीदने बाहर निकला है। उन ठगों ने दरबार को ठगने का निश्चय किया और दो बड़े काशीफल लेकर एक पेड़ पर टांग दिए। उसी पेड़ के पासवाली झाड़ी में दो खरगोश के बच्चे छिपे बैठे थे। उन ठगों ने दरबार से कहा कि हमारे पास बछेरों के दो सुन्दर अण्डे हैं, इनमें से दो सुन्दर बछेरा निकलेंगे। दरबार से सौद तय करके १००० रुपये उन्होंने ले लिए। फिर उन पेड़ पर छिपाकर रखे हुए दोनों काशीफलों को नीचे गिरा दिया। नीचे गिरते ही वे फट गए और एक जोर का धड़ाका हुआ। उस

धड़ाके की आवाज को सुनकर वे खरगोश के बच्चे झाडी में से निकलकर भागे। तब वे ठग ताली बजाकर हंसे और बोले महाराज! महाराज! अण्डे तो फूट गए। वे तुम्हारे दोनों बछेरे भागे जा रहे हैं। पकड़ो, पकड़ो। दरबार उन्हें सचमुच बछेरे जानकर उन्हें पकड़ने दौड़ा। परन्तु वे खरगोश किसी झाड़ी में छिप गए। हाथ न आए, दरबार मन मारकर घर आ गया। घर आकर अन्त:पुर के लोगों ने पूछा कि महाराज! बछेरों का क्या हुआ? तब दरबार ने अण्डे खरीदने की समस्त वार्ता कह सुनाई और कहने लगा कि इतने सुन्दर बछेरे निकले कि निकलते ही दौड पडे। अन्त:पुर के लोगों ने कहा कि महाराज! आप मूर्ख हो गये हैं। कहीं बछेरों के भी अण्डे होते हैं। परन्तु दरबार ने कहा अरे! मैंने अपनी आँखों देखे है न? परन्तु कोई पूछे, अरे! जब बछेरे के अण्डे होते ही नहीं तो तुमने देखे कहाँ से? इसी तरह अज्ञानी जीव कहता है कि "आत्मा, परद्रव्य के कार्य को करता देखा जाता है न"? अरे भाई! जब आत्मा, परद्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता तो तूने देखा कहाँ से? दृष्टि से तो जड़ की क्रिया देखी जाती है। आत्मा ने यह क्रिया की, यह तो नजर नहीं आता। यह देखो! हाथ में लकड़ी है। अब यह ऊंची हो गई है। इसमें आत्मा ने क्या किया? आत्मा ने यह जाना तो सही कि लकड़ी पहले नीचे थी और अब उपर हो गई है। परन्तु लकड़ी को ऊंचा करने में आत्मा समर्थ नहीं है। अज्ञानी जीव भी यह जानता है कि लकड़ी ऊंची हुई"। परन्तु "इसे ऊंचा मैंने किया है," ऐसा मान कर वह जो कुछ दिख रहा है, उससे भी विपरीत मान लेता है।

प्रश्न - हाथ तो आत्मा ने हिलाया तभी हिला न?

उत्तर - हाथ तो जड़ है-चमड़ा है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा और हाथ दोनों भिन्न पदार्थ है! आत्मा, हाथ का कुछ कर नहीं सकता। "आत्मा, हाथ का कुछ कर सकता है" ऐसा मानना तो चमडे को "स्व" रूप मान लेना है। पर रूप को स्व रूप मानना तो चारी है - हिंसा है-महान्पाप है।

(१) एक आत्मा दूसरे आत्मा का कुछ कर सकता है। अथवा—

(२) एक आत्मा जड़ [पुद्गल] का कुछ कर सकता है। अथवा —

(३) एक पुद्गल दूसरे पुद्गल का कुछ कर सकता है। अथवा—

(४) एक पुद्गल आत्मा का कुछ कर सकता है।

—ऐसा मानना महान् हिंसा है। इससे अधिक महान पाप जगत में दूसरा नहीं और इस हिंसा का फल जन्म-मरण की जेल है।

जो जीव यह मानता है कि किसी भी परद्रव्य का आत्मा कुछ कर सकता है तो फिर उसे

यह भी मानना पडेगा कि इस जगत के अनन्त परद्रव्यों का भी आत्मा कुछ कर सकता हैं। इस प्रकार अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व की महा अंधकाररूप विपरीत मान्यता को माननेवाला हुआ और जिस प्रकार आत्मा, परद्रव्य का कुछ कर सकता है; उसी प्रकार परद्रव्य भी आत्मा का कुछ कर सकता है – ऐसी उल्टी मान्यता भी फलित हुई। इस प्रकार अपने को निर्बल तथा पराधीन माना। तथा इस प्रकार दोनों तत्त्वों को ही पराधीन माना। यही तत्त्व की हिंसा है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ कर सकता है, यही मान्यता अपने स्वयं के स्वाधीन स्वरूप की हिंसा है और ऐसी एक क्षण की भी पराधीनतारूपी मान्यता में त्रिकाल का पाप समाया हुआ है। इसी प्रकार ''परद्रव्य का मैं कुछ नहीं कर सकता, परद्रव्य मेरा कुछ नहीं कर सकता, हरेक तत्त्व स्वतंत्र, स्वाधीन, परिपूर्ण है, सत् रूप है, कोई तत्त्व किसी का आधार नहीं। इस तरह प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्रता को मानना त्रिकाली सत् का स्वीकार करना है। स्वतंत्र सत् रूप का आदर है। यही धर्म है।

प्रश्न – आत्मा तो अनन्त शक्तिवाला है। पर का कुछ न कर सके, ऐसा निर्बल तो नहीं है। यदि वह पर का कुछ कर न सके तो आत्मा को अनन्त शक्तिवाला क्यों कहा है?

उत्तर – अनन्त शक्तिवाला है, यह बात सत्य है। परन्तु यह आत्मा की अनन्त शक्ति आत्मा में है। आत्मा की शक्ति पर में नहीं है। आत्मा चेतन पदार्थ है और ज्ञान, दर्शन, आनन्द, पुरुषार्थ वगैरह अनन्त चैतन्य शक्ति उसमें हैं। परन्तु उस शक्ति से आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता। पर का कुछ करने में आत्मा सर्वथा नि:शक्त है। अर्थात् आत्मा की परद्रव्यरूप से तो नास्ति है; इसलिए वह पर में कुछ कर सकता नहीं है। परद्रव्य स्वतंत्र है। उसमें आत्मा की शक्ति कुछ नहीं कर सकती है। आत्मा की अनन्त शक्ति आत्मा में ही कार्यकारी है। स्वयं के लिए तो आत्मा की ऐसी अनन्त शक्ति है कि उसके बल से वह एक क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसी बल के विपरीत प्रयोग से क्षण में सातवें नरक में जा सकता है। ऐसी आत्मा की अनंत शक्ति आत्मा में ही कार्य कर सकती है। परद्रव्य में किंचित् भी कार्य नहीं कर सकती।

हरेक तत्त्व अपने-अपने परिणाम का धारक है। अर्थात् हरेक वस्तु स्वयं ही अपनी अवस्था को धारण करती है। वस्तु परिणामी है और अवस्था उसका परिणाम है। परिणामी या परिणाम अथवा वस्तु और वस्तु की अवस्था ये दोनों भिन्न नहीं हो सकते। यही यथार्थ वस्तु स्वरूप है। ऐसा होने पर भी जो जीव ''परद्रव्य में परिणाम मैं कर सकता हूं'' — ऐसा मानता है, वह वस्तु स्वरूप का, विश्वधर्म का खून करता है। वस्तु स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है, वस्तु स्वरूप अन्यथा नहीं हो सकता। (शेष पृष्ठ १५ पर)

अनंत ज्ञानियों ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा के सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्थिरता रूप क्रिया के द्वारा

★ ★ ★ ★ मोक्ष होता है। ★ ★ ★ ★

रा. मा. दोशी

''ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः।''

(भाग १)

१:- यद्यपि यह सूत्र बहुत छोटा हैं किन्तु अपने को धर्मी होने का दावा करने वाले- सामान्य आदमी अधिकांश इसके अर्थ-रहस्य को नहीं समझते। इसलिये यहाँ उसकी कुछ व्याख्या की जाती है।

२:- क्रिया शब्द के अर्थ निम्नप्रकार है:-

(अ) आत्मा या पुद्गल के एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन होने को क्रिया कहते हैं। राजवार्तिक में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है।

''उभय निमित्तापेक्षः पर्याय विशेषो द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्ति हेतुः क्रिया''॥१॥

अर्थ :- उभय निमित्त अर्थात् अभ्यन्तर और बाह्य कारणों के द्वारा द्रव्य की एक से दूसरे देश को जो प्राप्ति होती है, ऐसी विशेष पर्याय (अवस्था) का नाम क्रिया है। [देखिये राजवार्तिक अध्याय ५, सूत्र ७, नीचे पहली कारिका पृष्ठ ८४] (इस क्रिया का मोक्ष के साथ संबंध नहीं है)

(ब) क्रिया का दूसरा अर्थ परिणति है। समयसार के कलश ५१ में क्रिया का अर्थ इस प्रकार दिया है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥

अर्थ :- जो परिणमता है वह [परिणमन होने वाले का] कर्ता है, और जो परिणाम है, वह कर्म है, तथा जो परिणति है, वह क्रिया है। यह तीनों वस्तुतः भिन्न नहीं हैं॥५१॥

(क) आत्मा को तथाविध परिणाम जीव की क्रिया है क्यों कि सर्व द्रव्यों का परिणामलक्षण क्रिया है। चूंकि आत्मा का परिणाम आत्मा की क्रिया है, इसलिये वह जीवमयी क्रिया कही जाती है। जिस द्रव्य की जिस परिणामरूप क्रिया है, उससे वह द्रव्य तन्मय है। और चूंकि जीव भी तन्मय है, इसलिये जो जीवमयी क्रिया है, वह जीव (आत्मा) की क्रिया है। [देखिये

प्रवचनसार पृष्ठ १७१-१७२] आत्मा और जीव एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिये यह पर्यायवाचक शब्द है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने भी इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों में कहा है - ''सभी पदार्थ अर्थ-क्रिया सम्पन्न हैं। सभी पदार्थ किसी न किसी परिणाम-क्रिया युक्त देखे जाते हैं। आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है।'' [देखिये श्री सर्व सामान्य प्रतिक्रमण आवश्यक पृष्ठ ९]

३:- उपर्युक्त क्रिया शब्द के अर्थों से निम्नलिखित सिद्धांत निश्चित होते हैं:-

(१) प्रत्येक द्रव्य का परिणाम, क्रिया है, और द्रव्य छः प्रकार के हैं, इसलिये क्रियायें भी छः प्रकार की हुई।

(क) जीव की क्रिया चैतन्य क्रिया है [शुद्ध, शुभ, अशुभ]

(ख) पुद्गल की क्रिया अर्थात् एक पुद्गल से लेकर अनंतानंत पुद्गलों की होने वाली क्रिया, पौद्गलिक क्रिया है। शरीर पुद्गल है, इसलिये उसकी क्रिया जड़ क्रिया है।

(ग) धर्मास्तिकाय का परिणमन, धर्मास्तिकाय की क्रिया है।

(घ) अधर्मास्तिकाय का परिणमन, अधर्मास्तिकाय की क्रिया है।

(ङ) आकाश का परिणमन, आकाश की क्रिया है।

(च) कालद्रव्य का परिणमन काल की क्रिया है।

(3) जीव और पुद्गल का आकाश के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन होना, गमन क्रिया है।

४:- मोक्ष, जीव का होता है, इसलिये जीव की क्रिया के द्वारा मोक्ष होता हैं। जीव की क्रिया शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की है। इसमें से जीव की शुद्ध क्रिया के द्वारा मोक्ष होता है, और अशुद्ध क्रिया के द्वारा संसार होता है; इसलिये यहाँ पर जीव की शुद्ध क्रिया से मतलब है।

५:- ज्ञान का अर्थ 'सम्यग्ज्ञान' है। और क्रिया का अर्थ 'शुद्ध आत्मानुभव' क्रिया है। इस विषय में समयसार नाटक में इस प्रकार कहा है:—

शुद्धातम अनुभौ क्रिया, शुद्ध ज्ञान दिग दौर।
मुक्तिपंथ साधन यहै, वाग्जाल सब और॥१२६॥

[सर्व विशुद्धि द्वार]

अर्थ:- सम्यग्दर्शन, शुद्धज्ञान और शुद्धानुभव क्रिया, मोक्ष का मार्ग और साधन है; दूसरा सब वाग्जाल है॥१२६॥ इससे सिद्ध हो गया कि इस स्थान पर क्रिया का अर्थ ज्ञान में स्थिरता अर्थात् शुद्धात्मानुभव क्रिया है, शुभाशुभभाव क्रिया या शरीर की क्रिया नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्ग अध्याय की गाथा २५ में भी यही कहा है। कि:—

दंसण णाण चरित्ते, तब विणह सच्च समिई गुत्तीसु।
जो किरिया भाव रुई, सो खलु किरिया रुई नाम॥

(नोंध- 'सच्च' शब्द 'सत्' 'च' से बना है। 'सत' का अर्थ भूतार्थ, परमार्थ, यथार्थ, सत्य, सम्यक्, निश्चय आदि होता हैं; इसलिये गाथा का अर्थ निम्नप्रकार हुआ।)

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप, सम्यक्विनय, सम्यक्समिति, और सम्यक्गुप्ति में जो जीव भाव क्रिया की रुचिवाला है, वह वास्तविक 'क्रियारुचिवान्' कहा जाता है।

''ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः।''

(भाग २)

१:- पहले भाग में आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध यों दो क्रियायें कही गई। यहाँ पर इस विषय को विशेष स्पष्ट किया जाता है।

२:- आत्मा की शुद्ध क्रिया को ज्ञानादि क्रिया और आत्मा की अशुद्ध क्रिया को क्रोधादि क्रिया कहा जाता है। पहली ज्ञान क्रिया का कोई भी ज्ञानी निषेध नहीं करता, जबकि दूसरी क्रोधादि क्रिया का निषेध अनन्त ज्ञानियों ने किया है। क्रोधादि शब्द का अर्थ है—जीव के मिथ्यात्व और राग-द्वेष रूप-भाव। इस विषय में भी समयसार की ६९-७० वीं गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने इस प्रकार कहा है :—

जैसे यह आत्मा, जिन्हें तादात्म्य सिद्ध संबंध है, ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष अन्तर या भिन्न लक्षण नहीं होने से उनमें भेद नहीं देखता हुआ निःशंकरूप से ज्ञान में अपने रूप में प्रवृत्ति करता है, और उस ज्ञान में अपने रूप में प्रवृत्ति करता है, इसलिए वह ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने से निषेधी नहीं गई है, इसलिये जानता है, तद्रूप परिणमता है; उसी तरह जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध संबंध है, ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञान भाव के कारण विशेष नहीं जानता हुआ, उनका भेद नहीं देखता, तब तक निःशंकतया क्रोधादि में अपने रूप में प्रवृत्ति करता है। और वहाँ [क्रोधादि में अपने रूप में] प्रवृत्ति करता हुआ वह क्रोधरूप परिणमन करता है, रागरूप परिणमन करता हैं, मोहरूप परिणमन करता हैं। यद्यपि क्रोधादि क्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है, फिर भी क्यों कि उसे स्वभावभूत होने का अभ्यास है, इसलिये क्रोधादिरूप परिणमन करता है।

३:- ज्ञान क्रिया को 'ज्ञप्ति क्रिया' भी कहा जाता है, और क्रोधादि क्रिया को 'करोति क्रिया' भी कहा जाता हैं। उस अशुद्ध क्रिया के और भी अनेक नाम हैं। उनके विषय में बाद में कहा जायगा।

४:- करने रूप क्रिया में जानने रूप क्रिया प्रतिभासित नहीं होती, और जानने रूप क्रिया में करने रूप क्रिया प्रतिभासित नहीं होती। इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और करोतिक्रिया दोनों भिन्न हैं।

'मैं परद्रव्य को करता हूँ', इस भाव से जब आत्मा परिणमन करता है, तब वह कर्ता भावरूप परिणमन क्रिया करने से अर्थात् करोति क्रिया करने से कर्ता ही है। और जब 'मैं पर द्रव्य को जानता हूँ' इस प्रकार परिणमन करता है, तब वह ज्ञाता भाव से परिणमन करता है अर्थात् ज्ञप्ति क्रिया करता है, इसलिये ज्ञाता ही है।

(समयसार कलश ९७)

ऊपर के नियम से सिद्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञान और जड़ की क्रिया, इन दोनों के एकत्र होने से मोक्ष होता है, ऐसा किसी ज्ञानी ने स्वीकार नहीं किया है। प्रत्युत अनंत ज्ञानियों ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा के सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्थिरतारूप क्रिया अर्थात् शुद्ध ज्ञान की क्रिया के द्वारा मोक्ष होता है। ज्ञप्ति क्रिया को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का सम्यक्चारित्र भी कहा जाता है।

हु:- जगत में जो क्रिया है, वह सब परिणाम (अवस्था, हालत, दशा) स्वरूप होने के कारण वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है (परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी (द्रव्य) से भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है। (प्रथक् प्रथक् दो वस्तुयें नहीं है)। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जो क्रिया हैं, वह सब क्रियावान (द्रव्य) से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार वस्तु स्थिति अर्थात् वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने के कारण क्रिया और कर्ता का अभिन्नपना सदा ही प्रदीप्त होने से, जैसे जीव व्याप्य-व्यापक भाव से अपने परिणाम करता है और भाव्य-भावक भाव से उसी का अनुभव करता है; उसी प्रकार यदि व्याप्य-व्यापक भाव से पुद्गल कर्म को भी करे और भाव्य-भावक भाव से उसी को भोगे तो वह जीव अपनी और दूसरे की एकत्र मिली हुई दो क्रियायें से अभिन्नपने का प्रसंग आने पर स्वपर का परस्पर विभाग अस्त हो जाने से [नष्ट हो जाने से] अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टि होने के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है। दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता और न चेतन की क्रिया जड़ ही करता है। जो पुरुष, एक द्रव्य को दो क्रियायें करता हुआ मानता है, वह मिथ्या-दृष्टि हैं, क्यों कि दो द्रव्यों की क्रिया को एक द्रव्य करता है, ऐसी जिनमत की मान्यता नहीं है। [समयसार, गाथा ८५]

इस प्रकार क्रिया का अर्थ परिणाम, पर्याय, हालत, दशा, या वर्तमान अवस्था होता है। इसलिये "ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष:" इस सूत्र में ज्ञान माने सम्यग्ज्ञान है और क्रिया का अर्थ है उस ज्ञान की ज्ञान में स्थिरतारूप वर्तमान में होने वाली अवस्था। और इसी तरह से सर्व विकार का

नाश होता है। उस पवित्रता का नाम है मोक्ष, अर्थात् विकार (अपवित्रता) से मुक्ति।

नोंध:- व्यापक-फैलनेवाला; व्याप्य-फैली हुई दशा; भावक-भोगनेवाला; भाव्य-भोगने लायक दशा। व्यापक द्रव्य है, व्याप्य उसकी पर्याय है; भावक द्रव्य है, भाव्य उसकी (भोगनेलायक) पर्याय (अवस्था) है।

★ ★ ★ ★

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

★ ★ ★ ★

(शेष पृष्ठ १० से आगे)

मात्र अज्ञानी अपने भाव में विपरीत मानता है। यह विपरीत मान्यता ही संसार का कारण है।

परिणामी और परिणाम अभेद होता है। परिणमन एक द्रव्य में हो और परिणमन करनेवाला अन्य द्रव्य हो, यह कभी नहीं हो सकता। एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के परिणमन में कोई असर या मदद नहीं कर सकता। जीव को दानादिक शुभभाव होते हैं तो उन भावों के कारण दूसरों का हित हो जाता है, और हिंसादिक अशुभ भावों के कारण दूसरे का अहित हो जाता है, सो बात नहीं है। क्योंकि जीव के परिणाम का फल जीव में ही है, पर में नहीं। इसी तरह परद्रव्य की अवस्था उसमें ही है, मुझ में नहीं। इसलिए अपनी अवस्था मैं करूं, पर की अवस्था पर द्रव्य करे, मैं पर की न करूं, पर मेरी न करे, ऐसी मान्यता प्रथम माने तो जीव की अनन्त शान्ति प्रगट हो और अनन्त रागद्वेष टल जायें। यह मान्यता ही परम धर्म है। इस मान्यता करने में अनन्त पर पदार्थों का अहंकार दूर करने का अनन्त पुरुषार्थ है। "मैं शुद्ध ज्ञायक स्वरूप आत्मा हुँ, ज्ञान के सिवाय, परद्रव्य का मैं कुछ नहीं कर सकता"। इस प्रकार जब तक सम्यक् मान्यता न होगी, तब तक आत्मा की सम्यग्ज्ञानरूपी कला उघड़ेगी नहीं। सम्यग्ज्ञान कला यही धर्म है। "मैं परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित, पर से भिन्न, ज्ञानस्वरूप, स्वतंत्र द्रव्य हूं"। इस प्रकार से जिसे अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं होता, वह परद्रव्यों को भी स्वतंत्र मानता नहीं, उन्हें स्वतंत्र न मान कर, परद्रव्य का कर्ता मैं हूँ और परद्रव्य भी मेरा कुछ कर सकते हैं; इस प्रकार वह समस्त द्रव्यों को पराधीन मानता है। जो जीव अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान प्राप्त कर चुका है, वह अन्य द्रव्यों को भी स्वतंत्र मानता है। इसीलिए वह अपने को पर का कर्ता नहीं मानता। इस प्रकार अनन्त परपदार्थों का अहंकार टल जाने से अपने स्वभाव की अनन्त दृढता प्राप्त हो जाती है। यही धर्म है और यही स्वाधीनता का मार्ग है।

★ ★ ★

॥ सहजानंदी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्म स्वरूप॥

सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय का उपदेश श्रवण, ग्रहण, धारण तथा

आत्मज्ञानी पुरुष

आगम का अभ्यास है

[लेखक : रा. मा. दोशी

धर्म क्रिया करने की बात सब लोग किया करते हैं, परन्तु क्रिया का स्वरूप कैसा है, इस बात से बहुत से मनुष्य बिल्कुल अपरिचित हैं। समाज के जन साधारण की बहु संख्या तो कुल क्रमागत चली आई हुई प्रथा को ही क्रिया (चारित्र) कहता है। ''पुण्य से धर्म होता है'' कई इसी मान्यता के अनुगामी हैं, कई ऐसा मानता है कि ''भगवान की पूजा भक्ति से, भगवान के दर्शन से और व्रत, तप से ही धर्म होता है''। परन्तु इन सभी मान्यताओं में कुछ न कुछ त्रुटि है। इसलिए धर्म क्रिया का स्वरूप समझने की बड़ी आवश्यकता है। इस विषय में एक सूत्र प्रचलित है कि ''ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः''। लेकिन इसका तात्पर्य समझने का मनुष्य प्रयत्न नहीं करते हैं। कितने ही मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान तथा शरीर की क्रिया, इनसे मोक्ष होता हैं। लेकिन यह जानना भ्रमात्मक है। इस सूत्र का सत्य अर्थ इस प्रकार है—

ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है और क्रिया का अर्थ है — आत्मा की स्थिरता। इन दोनों के एकीकरण से राग-द्वेष का नाश होकर वीतरागता प्रगट होती है और उसका फल मोक्ष है। मोक्ष आत्मा का होता है, शरीर का नहीं; इसलिए आत्मा का सम्यग्ज्ञान और उसमें सम्यग् स्थिरता से ही मोक्ष होता है।

मिथ्यादर्शन महापाप है। मिथ्यादर्शन का नाश पुण्य से नहीं हो सकता, क्योंकि पुण्य भी कषायभाव है। उसके नाश करने का उपाय तो मात्र सम्यग्दर्शन ही है। जब तक राग विद्यमान है, तब तक कोई भी व्यक्ति वीतराग नहीं हो सकता और वीतरागता के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिए सत्य आत्मिकज्ञान तथा स्थिरता से ही मोक्ष होता है, यह बात ध्यान में रखने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सम्यग्चारित्र नहीं होता। इसलिए मोक्षाभिलाषी को सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश श्रवण, ग्रहण और धारण तथा आगम का अभ्यास है। किन्तु मात्र कुलधर्म की मान्यता या क्रिया से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं

होता। सम्यग्दर्शन तो आत्मा की सच्ची पिछान है और इसका लाभ अज्ञानी पुरुषों के उपदेश से नहीं होता है। इसलिए मुमुक्षु को आत्मज्ञानी पुरुष की खोज करनी चाहिए, उनका उपदेश सुनना चाहिए। इसलिए सत्समागम की बड़ी आवश्यकता है।

आत्मा एक चैतन्य स्वरूप वस्तु है। अज्ञानदशा में उसकी शुभ और अशुभ ये दो क्रियाएँ होती हैं। इस क्रिया को परिणाम या भाव कहते हैं। अनादिकाल से यह जीव ऐसी क्रियाएँ करता आया है परन्तु अभी तक अपने शुद्ध स्वरूप को यह समझ नहीं सका। सम्यग्ज्ञान के अभाव में आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं कर सका।

सबसे प्रथम धर्म क्रिया सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही है। इस परिणाम को सम्यग्दर्शन की क्रिया भी कहते हैं। जब सम्यग्दर्शन हो जाता है, तब उस जीव का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

जीव अनादि काल से यह मिथ्या मान रहा है कि मैं शरीरादि परद्रव्यों का कार्य कर सकता हूँ। परन्तु शरीर तो अनन्त जड़ रजकणों का एक पिण्ड है। इसके विपरीत आत्मा तो एक चैतन्य स्वरूप वस्तु है। आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा में ही है और हरेक रजकण का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हरेक रजकण में ही है। आत्मा स्वक्षेत्रादि को छोड़कर कभी भी रजकणादि पर क्षेत्रादि में व्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा, शरीर की क्रिया कभी नहीं कर सकता।

शरीर अनेक रजकणों का पिण्ड है और उसका प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है। हरेक द्रव्य की अवस्था-पर्याय स्वतः होती है। क्योंकि हरेक द्रव्य सत् होने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। ध्रुवता के कारण वह द्रव्य (कायमी) त्रिकाली है, उत्पाद के कारण उसमें नवीन पर्याय की उत्पत्ति है तथा व्यय के कारण पूर्व पर्याय का त्याग है।

इसलिए मुमुक्षु जीवों को सर्व प्रथम यह निर्णय करने की जरूरत है कि जीव, शरीरादि किसी भी परद्रव्य की क्रिया किसी भी काल में नहीं कर सकता। इस निर्णय के बिना कभी किसी जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्धर्म (सम्यग्चारित्र) तो हो ही कहाँ से सकता है? ● ●

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोगणी। मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मैं श्रीगुरवेनमः॥

भगवान महावीर और वस्तु स्वरूप

लेखक : रामजीभाई माणेकचंद दोशी

प्रति चैत्र शुदि १३ के रोज शासननायक श्री महावीर भगवान के जन्म कल्याणक का मांगलिक दिन आता है। भगवान का जन्म कल्याणक वास्तविक रीति से वे ही मना सकते हैं जो यह जानते हों कि महावीरस्वामी कौन थे? वे क्यों पूजनीक है? और उनके उपदेश का क्या रहस्य है? जो इन बातों को न जानते हों, वे वास्तविक रीति से उनकी जन्मजयन्ती नहीं मना सकते। भगवान का पूज्यपना मात्र बाह्य संयोगों पर निर्भर नहीं, परन्तु अन्तरंग गुणों की परिपूर्णता के कारण ही भगवान पूज्य हैं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागमस्तोत्र में कहते हैं—

देवागम नमोयान चामरादि विभूतयः
माया विष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसिनो महान।

श्री समन्तभद्रसूरि को वीतरागदेव मानो कह रहे हों कि हे समन्तभद्र! इन हमारे अष्ट प्रातिहार्यों आदि विभूति को तू देख और हमारी महात्म्य देख! तब गुफा में से निकलता हुआ सिंह ही मानो गरज रहा हो, इस तरह श्री समन्तभद्राचार्य कह रहे हैं कि "देवताओं का आना, आकाश में चलना, चामरादि विभूति से सुशोभित होना, ये सब बातें तो मायावी या इन्द्रजालिक आदि में भी पायी जाती है। इसलिए मात्र इन बातों से ही नाथ! तुम महान-परम पूज्य नहीं हो! मात्र इन्हीं बातों से तुम्हारा महत्व नहीं है। तो फिर सत्देव की महत्ता क्या है, यह जानना आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्र की मंगलटीका (मंगलाचरण) में इस तरह कहा है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां;
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये।

मोक्षमार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वत भेदने (तोड़ने) वाले, विश्व तत्त्व के ज्ञाता, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

सारभूत अर्थ - "**मोक्षमार्गस्य नेतारं**" अर्थात् मोक्षमार्ग की तरफ ले जानेवाले नेता, इस पद के कहने से तीन बातें सिद्ध हुई-मोक्ष (मोक्ष का अस्तित्व), मोक्ष का मार्ग (मोक्ष प्राप्ति की विधि), तथा उस मार्ग की तरफ ले जानेवाले नेता-श्री वीतरागभगवान! यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग (प्राप्ति उपाय) भी होना ही चाहिए, मार्ग है तो उसका दृष्टा ज्ञाता भी कोई होना ही चाहिए, क्योंकि जो दृष्टा होगा, वही उस मार्ग की तरफ ले जा सकता है। मार्ग-तरफ ले जाने का कार्य

निराकार नहीं कर सकता, साकार ही कर सकता है। अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश साकार उपदेष्टा ही, जिसने कि देह स्थिति धारण करते हुए भी मोक्षसुख का पर्याप्त अनुभव किया हो, कर सकता है।

''भेत्तारं कर्मभूभृतां'' कर्मरूपी पर्वत को भेदनेवाले, अर्थात् कर्मरूपी पर्वत को तोड़ने से ही मोक्ष हो सकता है। जिसने साकार होकर, देह स्थिति धारक होकर कर्मरूपी पर्वत को तोड़ा है, ऐसा कौन ? जो देहस्थिति होने पर भी जीवन्मुक्त हैं, वही मोक्षमार्ग का उपदेष्टा हो सकता है। **''ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां''** अर्थात् समस्त विश्व का ज्ञाता। जो सर्वज्ञ न होगा, वह सर्व संसार को मार्ग कैसे बता सकेगा ? **''वन्दे तद्गुणलब्धये''** उन इष्टोपदेष्टा के गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उन्हें वन्दना करता हूँ अर्थात् ऐसे गुणोंवाला व्यक्ति ही आप्त है, और वही वन्दना योग्य है।

आचार्यदेव ने इस स्तोत्र में किसी खास व्यक्ति का नाम लेकर वन्दन नहीं किया है। परन्तु स्तोत्रकार ने वन्दनीक के गुणों की पहिचान करके, तत्सदृश गुणों की प्राप्ति के लिए ही उस आप्त की वन्दना की है।

जैनधर्म वीतराग प्रणीत है। उसका रहस्य एक शब्द में प्रगट करें तो वह शब्द है ''वीतरागता''। इसलिए इन गुणों को जिसने प्रगट किया हो, वही सुदेव है। इन गुणों को प्रगटाने में प्रयत्नशील ही सुगुरु हैं, ये दोनों आप्त हैं। आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत शास्त्र ही सुशास्त्र है। ऐसा सुदेव, गुरु कोई खास व्यक्ति नहीं, अपितु गुण प्राप्ति ही वहाँ कसौटी है। इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म गुण पूजा को स्वीकारता है, व्यक्ति पूजा को नहीं। गुण, गुणी के बिना नहीं रहता, इसलिए गुण की पूजा ही जैनशास्त्र को मान्य है।

जैनधर्म का मुख्य रहस्य है 'वीतरागता'। वीतरागता को ''ख'' की अहिंसा कहते हैं। क्योंकि कोई जीव वास्तव में पर की हिंसा या अहिंसा कर ही नहीं सकता। अपने भावों से अपनी ही हिंसा या अहिंसा कर सकता है। इस अहिंसा का स्वरूप भगवान के नीचे प्रमाण कहा है—

भगवान ने प्ररूपी सच्ची अहिंसा

''अहिंसा'' यह चारित्र का अंग है और सम्यग्चारित्र, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकता; इसलिए मिथ्यादृष्टि में सच्ची अहिंसा नहीं होती है। लौकिक मान्यता ऐसी है कि - परजीव की हिंसा न करनी, ऐसा उपदेश भगवान ने दिया है। परन्तु यह मान्यता भूल भरी है। ''किसी जीव को मारो मत, किसी को दुख न दो'' यह साधारण उपदेश तो प्रत्येक घर में सर्वदा साधारण संसारी जीव भी दिया करते हैं। छोटी-छोटी पाठशालाओं में भी थोड़े बहुत अंश में यह उपदेश दिया ही जाता है। अगर भगवान ने भी यही उपदेश दिया हो तो फिर भगवान साधारण लौकिक पुरुष ही सिद्ध होंगे, लोकोत्तर नहीं। अनन्तवीर्य गुण प्रगट होने के बाद भगवान की जो

दिव्यध्वनि प्रगट होती है, उसमें तो ऐसा उपदेश होता है कि उक्त लौकिक मान्यता गलत है। कोई जीव किसी जीव की हिंसा नहीं कर सकता, परन्तु हिंसा के विकारी भावों से वह स्वयं की ही हिंसा कर सकता है''। भगवान ने अहिंसा का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि ''जीव में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का उत्पन्न होना ही हिंसा है और उन्हें उत्पन्न न होने देकर आत्मस्वरूप में स्थित रहना, यही अहिंसा तथा सत्य धर्म है। और द्रव्य प्राणों का घात भी भाव हिंसा के बिना नहीं हो सकता। जो जीव उक्त अहिंसा का सर्वांश में पालन नहीं कर सकते, वे जितने अंश में सत्य अहिंसा पाल सकते हैं, उतने अंश में अहिंसक हैं और शेष अंश में हिंसा के भागी हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि जितने अंश में वीतराग भाव है, उतने ही अंश में अहिंसा है। ख्याल रहे कि शुभराग की हिंसा है। यही अहिंसा श्री महावीर भगवान ने प्ररूपा है।

भगवान एक अलौकिक आत्मा थे, इसलिए उनकी बताई हुई अहिंसा भी अलौकिक है, यह न्याय सिद्ध है। अपने स्वरूप को यथार्थरूप से जाने बिना तथा मिथ्यादर्शन को दूर किए बिना कोई भी जीव पूर्णरूप से या अंशरूप से अहिंसक सत्यरूप, अचौर्यरूप, ब्रह्मचर्यरूप और अपरिग्रहरूप नहीं हो सकता। यही सन्देश दिव्यध्वनि द्वारा जब प्रगटीत होता था, तभी शासनभक्त देव दुन्दुभि के दिव्यनाद से उसे बधा लेते थे।

भगवान के इस उपदेश को सुनकर कितने ही भव्य जीवों को धर्म की प्राप्ति हुई अर्थात् वे सम्यग्दृष्टि हुए। सम्यग्दृष्टि होकर सम्यग्चारित्री हुए। वे शुद्ध भाव में रमण करते थे। जब शुद्ध भाव में स्थिर न रह सकते थे, तब अशुभभाव को टाल कर शुभभाव में प्रवर्तते थे। जीव की हिंसा करने का भाव पाप भाव है, अत: वे उससे अलग रहते थे। जिन्होंने इस धर्म के स्वरूप को समझा नहीं, परन्तु समझने की रुचिवाले हुए, उन्होंने भी हिंसा के तीव्र अशुभभावों को टाला। जिन लोगों की रुचि भी जागृत न हुई, वे भी मन्द कषायी हुए। इस तरह पर जीवों की हिंसा अटकी। इसीलिए व्यवहार भाषा में कहा जाता है कि ''भगवान के उपदेश से जीवों की हिंसा अटकी''। परन्तु यह लौकिक व्यवहार कथन है। शब्दों के अर्थ पर विचार करें तो भगवान पर के कर्ता ठहरेंगे, जो असत्य है।

भगवान महावीर विश्वोपकारक है और महान तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थंकर महापुरुष थे। इसलिए भगवान की जन्मजयंती का मांगलिक दिन जनसमूह मनावे, वह स्वभाविक है परन्तु जयन्ती को माननेवाले, भगवान का पूर्ण गुणों को पहिचान कर, वास्तव में मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, यह जानकर, पूर्णरूप से या अंशरूप से उन गुणों को आत्मा में प्रगटावे तो सत्यरूप में जयन्ती मनायी जा सकती है। इसलिए जिसे सच्चे सुख की अभिलाषा हो, वह पहले सच्ची श्रद्धा और ज्ञान प्राप्त करे। यही जयन्ती मनाने की सार्थकता है।

जो कोई जीव एक बार भी द्रव्यदृष्टि धारण कर लेता है, उसे अवश्य

मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(१) द्रव्यदृष्टि में भव नहीं - आत्मा वस्तु है। वस्तु का मतलब है-सामर्थ्य से परिपूर्ण, त्रिकाल में एकरूप में अवस्थित रहनेवाला द्रव्य। इस द्रव्य का वर्तमान तो सर्वदा उपस्थित है ही। अब यदि वह वर्तमान किसी निमित्ताधीन है तो समझ लो कि विकार है अर्थात् संसार है और यदि वह वर्तमान स्वाश्रयस्थित है, तो द्रव्य में विकार न होने से पर्याय में भी विकार नहीं है अर्थात् वही मोक्ष है। दृष्टि ने जिस द्रव्य को लक्ष्य किया है, उस द्रव्य में भव या भव का भाव नहीं है। इसलिए उस द्रव्य को लक्षित करनेवाली अवस्था में भी भव या भव का भाव नहीं है। सारांश यह कि द्रव्यदृष्टि में तो त्रिकाल मुक्ति हैं, उसमें भव नहीं है।

यदि आत्मा अपनी वर्तमान अवस्था को ''स्वलक्ष्य'' से रहित धारण कर रहा है तो वह विकारी है। लेकिन फिर भी वह विकार मात्र एक समय (क्षण) पर्यन्त ही रहनेवाला है, नित्य द्रव्य में वह विकार नहीं है। इस वास्ते नित्य-त्रिकालवर्ती द्रव्य को लक्ष्य करके जो वर्तमान अवस्था होती हैं, उसमें कमीपना या विकार नहीं है और जहाँ कमीपना या विकार नहीं है, वहाँ भव का भाव नहीं है और भव का भाव नहीं, इसलिए भव भी नहीं है। इसलिए द्रव्यस्वभाव में भव न होने से द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में भव का अभाव ही है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि भव को स्वीकारती नहीं है।

आत्मा का स्वभाव नि:सन्देह हैं, इसलिए उसमें — (१) सन्देह, (२) राग-द्वेष या (३) भव नहीं है। अत: सम्यग्दृष्टि को निज स्वरूप का (१) सन्देह नहीं, (२) राग-द्वेष का आदर नहीं, (३) भव की शंका नहीं। दृष्टि मात्र स्वभाव को ही देखती है। दृष्टि परवस्तु या पर निमित्त की अपेक्षा से होनेवाले विभावभावों को भी स्वीकारती नहीं है। इसलिए विभावभाव के निमित्त से होनेवाले भव भी दृष्टि के लक्ष्य में नहीं होते। दृष्टि तो मात्र स्ववस्तु को ही देखती है, इसलिए उसमें परद्रव्य सम्बन्धी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के सिवाय का अकेला स्वभावभाव ही दृष्टि का विषय है। स्वभाव भाव में यानी द्रव्यदृष्टि में भव नहीं। इस तरह स्वदृष्टि का जोर नये भव के बन्धन को उपस्थित नहीं होने देता। जहाँ द्रव्यदृष्टि नहीं होती, वहाँ भव का बन्धन उपस्थित हुए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उसकी दृष्टि द्रव्य पर नहीं, पर्याय पर है तथा राग युक्त है। ऐसी दृष्टि तो बन्धन का ही कारण होती है।

(२) द्रव्यदृष्टि भव को बिगड़ने नहीं देती— द्रव्यदृष्टि होने के बाद कुछ अस्थिरता

रह भी जाय और एक दो भव हो भी जाय तो वे भव बिगड़ते नहीं हैं। द्रव्यदृष्टि के बाद जीव कदाचित् वैरियों के संहारार्थ युद्ध में तत्पर हो रहा हो, बाण के ऊपर बाण छोड़ रहा हो, नील, कापोत लेश्या के अशुभभाव कभी-कभी आते भी हों तो भी उस वक्त नये भव की आयु का बन्ध नहीं होता। क्योंकि अन्तरंग में द्रव्यदृष्टि का जोर बेहद बढ़ा हुआ रहता है और वह जोर भव को बिगड़ने देता नहीं है। तथैव भव-अवस्था को बढ़ने देता नहीं है। जहाँ द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि पड़ी कि स्वभाव अपना कार्य बिना किए न रहेगा, इसलिए द्रव्यदृष्टि होने के बाद नीचगति का बन्ध या संसार वृद्धि नहीं हो सकती। ऐसा यह द्रव्यस्वभाव का वर्णन है। (२१-६-४४ की चर्चा के आधार से)

(३) द्रव्यदृष्टि को क्या मान्य है — द्रव्यदृष्टि कहती है कि "मैं मात्र आत्मा को ही स्वीकार करती हूँ"। आत्मा में 'पर का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अत: पर सम्बन्धी भावों को यह दृष्टि स्वीकारती नहीं है। अरे! चौदह गुणस्थान के भेदों को भी, पर संयोग से होने के कारण यह दृष्टि स्वीकारती नहीं है। इस दृष्टि को तो मात्र आत्मस्वभाव ही मान्य है। जो जिसका स्वभाव है, उसमें उसका कभी भी किंचित् भी अभाव नहीं हो सकता और जो किंचित् भी अभाव या हीनाधिक हो सके, वह वस्तु का स्वभाव नहीं है अर्थात् जो त्रिकाल में एकरूप रहे, वही वस्तु का स्वभाव है। यह दृष्टि इसी स्वभाव को ही स्वीकारती है। द्रव्यदृष्टि कहती है कि "मैं जीव को मानती हूँ"। परन्तु जीव उतना ही, जितना कि पर संयोग रहित हो अर्थात् पर पदार्थों के सम्बन्ध से नितान्त रहित जो अकेला स्वतत्त्व रहे, उसे ही यह दृष्टि ग्रहण करती है। अपने लक्ष्य की-चैतन्य भगवान की, पहिचान पर के निमित्त से कराऊँ तो चैतन्य स्वभाव की हीनता प्रदर्शित होती है। मेरे चैतन्यस्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं। एक समय में परिपूर्ण द्रव्य ही मुझे मान्य है। (१८-१-४५ के दिन दिये हुए व्याख्यान में से-समयसार गाथा ६८)

(४) मोक्ष भी द्रव्यदृष्टि के आधीन है — जो कोई जीव एक बार भी द्रव्यदृष्टि को धारण कर लेता है, वह जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। द्रव्यदृष्टि के बिना जीव अनन्तानन्त उपाय करे तो भी मोक्ष नहीं पा सकता। श्रीमद् राजचन्द्रजी "सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा" के विवरण में कहते हैं कि सम्यक्त्व को ग्रहण करने से ग्रहणकर्ता को सम्यक्त्व की अतुलशक्ति की प्रेरणा से मोक्ष जबर्दस्ती प्राप्त करना ही पड़ता है तथा वे आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बिना जनम-मरण के दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिए जो मोक्ष का अभिलाषी हो, उसे अवश्य द्रव्यदृष्टि धारण करनी चाहिए। जिस जीव को द्रव्यदृष्टि प्राप्त हो गई, उसकी मुक्ति होगी ही, और जिसे यह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति दृष्टि के आधीन है।

(५) ज्ञान भी दृष्टि के आधीन है — जिस जीव को द्रव्यदृष्टि नहीं, उसका ज्ञान सच्चा नहीं। भले ही जीव ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त कर ले, परन्तु यदि द्रव्यदृष्टि प्राप्त नहीं तो वह सर्व ज्ञान मिथ्या है और भले ही नौ तत्त्वों के नाम भी न जानता हो, परन्तु यदि उसे द्रव्यदृष्टि प्राप्त हैं तो उसका ज्ञान सच्चा है। सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि ''अनन्त काल से जो ज्ञान, भव का कारण होता था, उस ज्ञान को एक क्षण में जात्यंतर करके जिसने भव निवृत्तिरूप परिणत कर दिया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार हो''। द्रव्यदृष्टि रहित ज्ञान मिथ्याज्ञान है और वह संसार का कारण है। द्रव्यदृष्टि प्राप्त करते ही वह ज्ञान सम्यक्पना प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञान भी दृष्टि के आधीन है।

(नोट - द्रव्यदृष्टि कहो या आत्मस्वरूप की पहिचान कहो, एक ही बात है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि, परमार्थ दृष्टि, वस्तुदृष्टि, स्वभावदृष्टि, यथार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि ये सब एकार्थवाचक हैं।)

(६) विपरीत दृष्टि की विपरीतता का माहात्म्य — जिन जीवों को उपर्युक्त द्रव्यदृष्टि नहीं होती, उन्हें विपरीत दृष्टि होती है। (विपरीत दृष्टि के अन्य अनेक नाम हैं - जैसे कि मिथ्यादृष्टि, व्यवहार दृष्टि, अयथार्थ दृष्टि, झूठी दृष्टि, पर्याय दृष्टि, विकार दृष्टि, अभूतार्थ दृष्टि ये सब एकार्थवाचक शब्द है) यह विपरीत दृष्टि एक समय में अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव को नहीं मानती हैं अर्थात् इस दृष्टि में अखण्ड परिपूर्ण वस्तु को न मानने की अनन्त विपरीत सामर्थ्य भरी हुई है। पूर्ण स्वभाव का निरादर करनेवाली दृष्टि अनन्त संसार का कारण है और ऐसी दृष्टि एक समय में महा पाप का कारण है। हिंसा, चोरी, झूठ, शिकार आदि सात व्यसनों के पापों से भी बढ़कर अनन्त गुना महापाप यह दृष्टि है।

(७) द्रव्यदृष्टि ही परम कर्तव्य है — अनादि काल से चले आये इन महान दुःखों का नाश करने के लिए उसके मूलभूत बीज को यानी मिथ्यात्व को आत्मस्वरूप की पहिचानरूप सम्यक्त्व के द्वारा नाश करना, यही जीव (आत्मा) का परम कर्तव्य है। अनादि संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि सर्व शुभकृत्य अपनी मान्यता के अनुसार अनन्त बार किए हैं और पुण्य करके अनन्त बार स्वर्ग का देव हुआ है, तो भी संसार परिभ्रमण टला नहीं, इसका मात्र कारण यही है कि जीव ने अपने आत्मस्वरूप को जाना नहीं, सच्ची दृष्टि प्राप्त की नहीं। और सच्ची दृष्टि किए बिना भव का अन्त नहीं आ सकता। इसलिए आत्मकल्याणार्थ द्रव्यदृष्टि प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्रगटाना, यही सब जीवों का कर्तव्य है और इस कर्तव्य को स्वलक्षी पुरुषार्थ द्वारा प्रत्येक जीव कर सकता है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीव का अवश्य मोक्ष होता है। ● ●

तत्त्वस्वरूप समझानेवाली चौभंगी

हेय क्या और उपादेय क्या? इसके निम्न प्रकार चार भंग हैं—

(१) परवस्तु को हेय-उपादेय माने, वह अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि कोई भी पर पदार्थ इष्ट या अनिष्ट है ही नहीं। जो पर को ठीक या अठीक मानता है, वह उस पर वस्तु को जिसे ठीक मानता है, ग्रहण करना चाहता है और जिस परवस्तु को वह अठीक मानता है, उसे त्यागना चाहता है। परन्तु पर पदार्थ की क्रिया तो स्वतन्त्र है। आत्मा उसका ग्रहण या त्याग कर ही नहीं सकता। जिस पदार्थ की क्रिया अपने आधीन नहीं, उसमें ठीक या अठीकपना मानना या उसे ग्रहण करने या त्याग करने की इच्छा करना, यह मिथ्यादृष्टिपना है। कोई भी पर पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं।

(२) मैं आत्मा ठीक हूँ तथा पर पदार्थ अठीक हैं — ऐसा मानना, यह भी अज्ञान है। क्योंकि ऐसा माननेवाला जीव, पर को अठीक मानता हुआ उसे त्यागना चाहता है। परन्तु आत्मा तो पर का ग्रहण या त्याग कर ही नहीं सकता। ग्रहण या त्याग का स्थान तो अपना आत्मिक भाव ही है, परद्रव्य नहीं। जो पर को अठीक मानता है और मैं पर को छोड़ सकता हूँ, या ग्रहण कर सकता हूँ, ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

ऊपर के दो भेद विपरीत मान्यता के हैं। अब शुद्ध मान्यता के भी दो भेद हैं-जो निम्न प्रकार हैं—

(३) मेरा पूर्णानन्द स्वभाव तो ठीक और यह विकारीभाव अठीक है, जो ऐसा मानता है-उसकी दृष्टि तो सच्ची है, परन्तु चारित्र की अस्थिरता है। विकारी भाव को हेय मान रहा है, वह विकारी भाव को छोड़ सकता है और शुद्धता तथा पूर्णानन्द प्रगटा सकता है, इसलिए उसकी दृष्टि सच्ची है। जिसे हेय, उपादेय मानता है, उसमें से उपादेय का ग्रहण तथा हेय का त्याग कर सकता है। इसलिए दृष्टि तो सच्ची है, परन्तु फिर भी हेय का त्याग तथा उपादेय का ग्रहण करने का विकल्प विद्यमान होने से राग-द्वेष का अंश है; अतः चारित्र की अस्थिरता है, परन्तु मान्यता का दोष नहीं है।

(४) मेरा स्वभाव उपादेय तथा विकारी भाव हेय है, ऐसा विकल्प भी छूट जाए और ज्ञायक स्वभाव में स्थिर हो जाए-वीतराग हो जाए, वहीं दृष्टि और चारित्र दोनों पूर्ण हैं। त्याग और ग्रहण का सर्व विकल्प छूटकर पूर्णानन्द स्वभाव प्रगट हो जाय, वही उत्तम है।

ऊपर की ही चौभंगी पूज्य गुरुदेवश्री ने ता. १६-२-४५ के दिन पुनः समझाई, वह निम्न प्रकार है—

(१) परवस्तु जीव को इष्ट या अनिष्ट है, ऐसा मानना मिथ्याभाव है, महा भूल है, महापाप है। इसका खुलासा इस प्रकार है। परवस्तु इस जीव के आधीन नहीं है, जीव उसे प्राप्त नहीं कर सकता। वह उनका कुछ नहीं कर सकता, और परवस्तु जीव का कुछ नहीं करती। फिर ऐसे परपदार्थ में इष्ट, अनिष्टपना मानना अनन्त दुःख का कारण है, मिथ्याभाव है, क्योंकि उसमें इष्ट अनिष्टपना मानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अर्थात् परवस्तु, जिसको जीव इष्ट मानते हैं, उसका ग्रहण और परवस्तु, जिसको जीव अनिष्ट मानते हैं, उसका त्याग जीव नहीं कर सकते हैं।

(२) जीव स्वयं इष्ट है और परवस्तु अनिष्ट है, ऐसा मानना भी मिथ्याभाव है, महाभूल-महापाप है। इसका खुलासा यह है-परवस्तु, जीव का कुछ बिगाड़ नहीं सकती, फिर भी अनिष्ट मानना अनन्त दुःख का कारण है। क्योंकि परवस्तु को अनिष्ट मानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता अर्थात् जीव, परवस्तु का त्याग नहीं कर सकता।

ये दोनों ही मान्यताएं मिथ्या हैं। हिंसादि पापों की अपेक्षा भी यह पाप अनन्त गुना है। इसीलिए इसे महा पाप कहा है। अज्ञानी जीव को होनेवाले सर्व विकार भावों का मूल यह विपरीत मान्यता ही है। ज्ञानी की मान्यता सम्बन्धी दो भंग इस प्रकार हैं—

(३) अपना शुद्ध स्वभाव इष्ट और विकारी अवस्था अनिष्ट, यह मानना या जानना, यह साधक दशा हैं। इसका खुलासा यह है—

अपने में होनेवाले विकारी भाव अनिष्ट और त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वभाव तथा उसके आश्रय से प्रगट होनेवाली शुद्धदशा ही इष्ट है, ऐसा मानना या जानना यथार्थ है। जीव अपने यथार्थ स्वरूप को जाने और ग्रहण-त्याग किसका कर सके, वह भी जाने तभी दोषों की निवृत्ति हो सकती है। इस वास्ते यह तीसरी भंग सत्य मान्यता है, परन्तु इसमें ग्रहण-त्याग का विकल्प होने से राग हैं, अस्थिरता है।

(४) अपना शुद्ध स्वभाव इष्ट तथा विकारी अवस्था अनिष्ट — ऐसे विकल्पों को दूर कर स्वरूप में स्थिर होना, यही वीतरागभाव है। इसका खुलासा-तीसरी भंग में कही हुई सच्ची मान्यता किया बाद विकल्प को दूर कर स्वरूप में स्थिर होना, वह वीतराग दशा है, उत्तम हैं। उपर्युक्त ग्रहण-त्याग के स्वरूप को समझानेवाला यह चौभंगी का स्वरूप विशेष मनन करने योग्य है। (रात्रि चर्चा)